समाधि साधना और सिद्धि

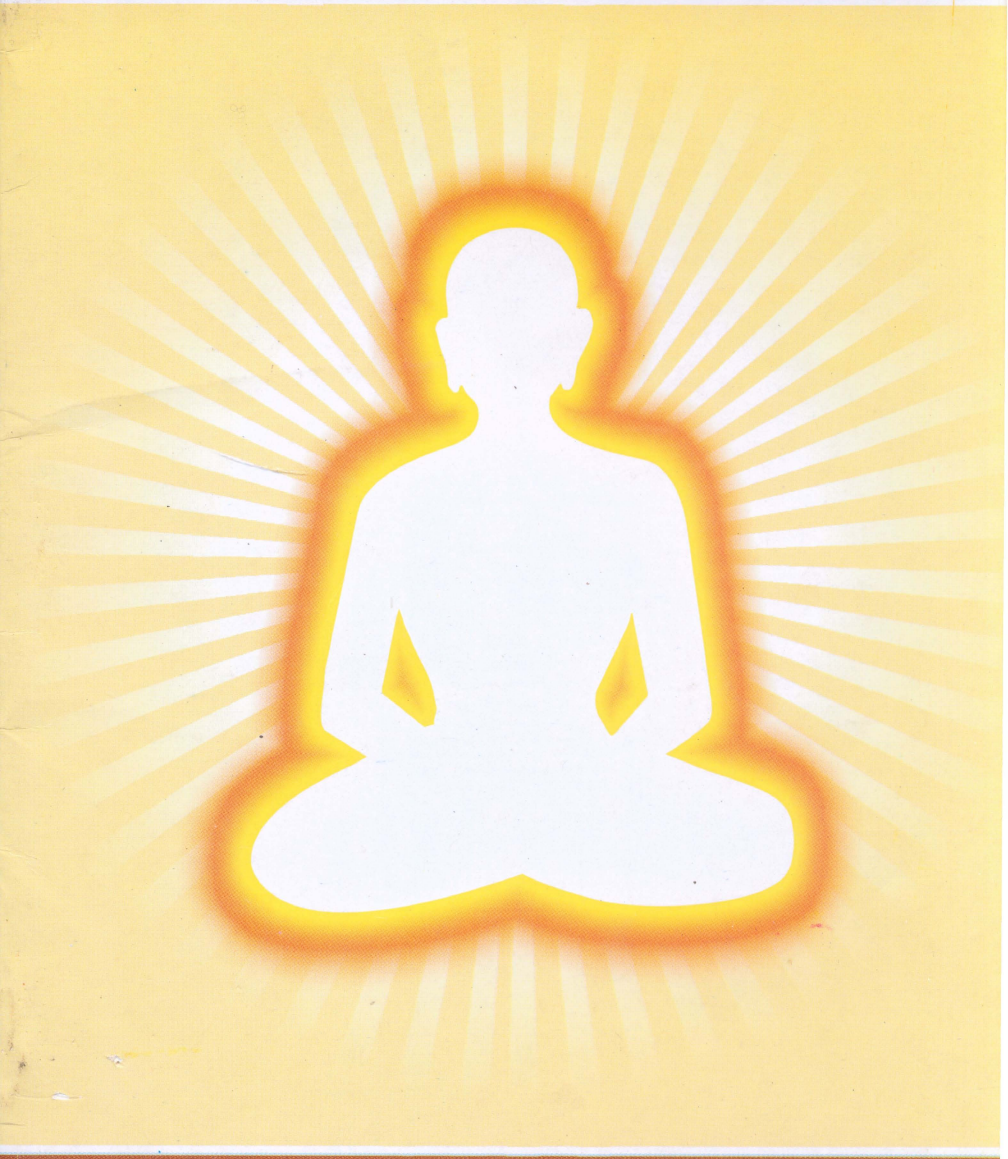

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

समाधि-साधना और सिद्धि

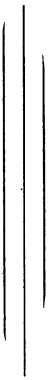

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम.ए., बी.एड़

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वतपरिषद् ट्रस्ट

१२९ जादोन नगर 'बी' स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर

प्रथम संस्करण : २ हजार
(१५ अगस्त, २००४)

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- अध्यात्म बारहखड़ी
- मंगल तीर्थयात्रा
- चतुर चितारणी
- इष्टोपदेश
- ज्ञानामृत
- क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन
- श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि
- जैन जाति नहीं धर्म है
- शुद्धपयोग विवेचन
- बसंततिलका
- क्षत्रचूड़ामणि

मूल्य : चार रुपए

मुद्रक :
प्रिन्टोमैटिक्स
स्टेशन रोड़,
दुर्गापुरा, जयपुर-३०२०१८

आत्मकथ्य

समाधि, साधना और सिद्धि

क्रोधादि मानसिक विकारों का नाम है 'आधि'
शारीरिक रोग का दूसरा नाम है 'व्याधि'
पर में कर्तृत्व बुद्धि का बोझ है 'उपाधि'
उपर्युक्त तीनों विकृतियों से रहित –
शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता का नाम है 'समाधि'

× × × ×

समाधि की समझ से होती है आत्मा की प्रसिद्धि
समाधि की साधना से होती है
आत्म सद्गुणों में अभिवृद्धि
और बढ़ती है आत्म शक्तियों की समृद्धि
प्रस्तुत कृति का नाम है 'समाधि, साधना और सिद्धि'
जो पुनः-पुनः पढ़ेगा इसे उसके आत्मा में होगी विशुद्धि
और होगी आत्मशान्ति में वृद्धि

× × × ×

'समाधि' है जीवन जीने की कला
इससे होता है आत्मा का भला
इसे न समझो बला, अन्यथा यों ही –
चलता रहेगा संसरण का सिलसिला
'सल्लेखना' है मृत्यु महोत्सव का जलजला
और इसी से पहुँचते है सिद्ध शिला

× × × ×

अब तक संयोगों के राग में यों ही गया छला
मैं तो अकेला ही आया था;
और अब अकेला ही चला,
समाधि है जीवन जीने की कला।

– रतनचन्द भारिल्ल

प्रकाशकीय

श्री अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होनेवाली नवीन पुस्तकों की श्रृंखला में 'समाधि-साधना और सिद्धि' पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति है जिसका प्रकाशन निश्चय ही गौरव का विषय है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आ. श्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा से जब विद्वत् परिषद् ट्रस्ट कमेटी द्वारा साहित्य प्रकाशन का निर्णय लिया गया तो सभी को यह कार्य रुचिकर लगा। इस निर्णय से एक लाभ तो यह है कि विद्वत्परिषद् के रचनात्मक कार्य को बल मिलेगा और दूसरा सबसे बड़ा लाभ समाज को सस्ती दरों पर श्रेष्ठ साहित्य मिलेगा।

ट्रस्ट के माध्यम से अध्यात्म बारहखड़ी, मंगलतीर्थ यात्रा, चतुरचितारणी, इष्टोपदेश, ज्ञानामृत, क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन, जैन जाति नहीं धर्म है, श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि, शुद्धोपयोग विवेचन, बसंत तिलका, क्षत्रचूड़ामणि तथा प्रतिबोध जैसी बारह पुस्तकों का प्रकाशन अब तक हो चुका है। समाधि-साधना और सिद्धि अनेक पुस्तकों के लोकप्रिय लेखक विद्वत्वर्य पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति है। आशा है इस लघु कृति के माध्यम से आप सभी समाधि-साधना और सिद्धि के वास्तविक अर्थ को समझेंगे और अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

इसी आशा और विश्वास के साथ।

अखिल बंसल
संयोजक, साहित्यप्रकाशन समिति,
श्री अ.भा.दि. जैन वि.प. ट्रस्ट

समाधि-साधना और सिद्धि

सन्यास और समाधि है जीना सिखाने की कला।
बोधि-समाधि साधना शिवपंथ पाने की कला।।
सल्लेखना कमजोर करती काय और कषाय को।
निर्भीक और नि:शंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को।।

मरण और समाधिमरण – दोनों मानव के अन्तकाल की बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यदि एक पूर्व हैं तो दूसरा पश्चिम, एक अनन्त दुःखमय और दुःखद है तो दूसरा असीम सुखमय व सुखद। मरण की दुःखद स्थिति से सारा जगत सु-परिचित तो है ही, भुक्त-भोगी भी है। पर समाधिमरण की सुखानुभूति का सौभाग्य विरलों को ही मिलता है, मिल पाता है।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञजनों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए 'मरण' एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पना मात्र से अज्ञानियों का कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है मानों उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित-अकस्मात अनभ्र वज्रपात होनेवाला है, जो उनका सर्वनाश कर देगा; उन्हें नेस्त-नाबूत कर देगा, उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। समस्त सम्बन्ध और इष्ट संयोग अनन्तकाल के लिए वियोग में बदल जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनका 'मरण' 'समाधिमरण' में परिणत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

जब चारित्रमोहवश या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण आत्मा की अमरता से सुपरिचित-सम्यग्दृष्टि-विज्ञजन भी 'मरणभय' से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रह पाते, उन्हें भी समय-समय पर इष्ट वियोग

के विकल्प सताये बिना नहीं रहते। ऐसी स्थिति में देह-जीव को एक मानने वाले मोही-बहिरात्माओं की तो बात ही क्या है? उनका प्रभावित होना व भयभीत होना तो स्वाभाविक ही है।

मरणकाल में चारित्रमोह के कारण यद्यपि ज्ञानी के तथा अज्ञानी के बाह्य व्यवहार में अधिकांश कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, दोनों को एक जैसा रोते-बिलखते, दुःखी होते भी देखा जा सकता है; फिर भी आत्मज्ञानी-सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन-आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि दोनों की श्रद्धा में भी जमीन-आसमान जैसा ही महान अन्तर आ जाता है।

स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से प्राण छोड़ने के कारण नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है; वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके 'मरण' को 'समाधिमरण' में अथवा मृत्यु को महोत्सव में परिणत कर स्वर्गादि उत्तमगति को प्राप्त करता है।

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो मृत्यु जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तनरूप कारागृह से निकाल कर दिव्य देह रूप देवालय में पहुँचा देता है।

कहा भी है –

''मृत्युराज उपकारी जिय कौ, तन सों तोहि छुड़ावै।
नातर या तन वन्दीगृह में, पड़ौ-पड़ौ विललावै॥''

कल्पना करें, यदि मृत्यु न होती तो और क्या-क्या होता, विश्व की व्यवस्था कैसी होती?

अरे! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गंभीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी

यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तर मात्र हैं, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है। परन्तु जिसने जीवन भर पापाचरण ही किया हो, आर्त-रौद्रध्यान ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे का दुःख कौन दूर कर सकता है? अब उसके मरण सुधरने का भी अवसर समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी तो अब गति के अनुसार मति को बिगड़ना ही है।

सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। वह जानता है, विचारता है कि –

"नौ दरवाजे का पींजरा, तामें सुआ समाय।
उड़वे कौ अचरज नहीं, अचरज रहवे माँहि॥"

अतः उसे मुख्यतया तो मृत्युभय नहीं होता। किन्तु कदाचित् यह भी संभव है कि सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टियों की तरह आँसू बहाये। पुराणों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं – रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यदृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी थे; फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कंधे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न दशा देखकर लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था कि – "पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं? लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने स्लेट पट्टी माँगी और उस पर लिखा –

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना॥
जा परजै को अंत सत्यकरि जानना।
चले बनारसी दास फेरि नहिं आवना॥

अतः मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है; चारित्रमोह जनित कमजोरी तो अभी है ही न? फिर भी वह विचार करता है कि – ''स्वतंत्रतया स्वचालित अनादिकालीन वस्तु व्यवस्था के अन्तर्गत 'मरण' एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी जीवों का जीवन-मरण व सुख-दुःख अपने-अपने कर्मानुसार ही होता है। कहा भी है –

''परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।''

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन प्रतिकूल परिस्थितियों को टालने के अन्त तक भरसक प्रयास करते हैं; तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, हो भी नहीं सकते। अंततः इस पर्यायगत सत्य से तो सबको गुजरना ही पड़ता है। जो विज्ञजन तत्त्वज्ञान के बल पर इस उपर्युक्त सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनका मरण समाधिमरण के रूप में बदल जाता है और जो अज्ञजन उक्त सत्य को स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से मरकर नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि – ज्ञानीजन स्वतंत्र-स्वचालित वस्तुस्वरूप के इस प्राकृतिक तथ्य से भलीभाँति परिचित होने से श्रद्धा के स्तर तक मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ चिन्ताओं में व विकथाओं में बर्बाद नहीं करते। किन्तु इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित अज्ञानीजन अनादिकाल से हो रहे जन्म-मरण एवं लोक-परलोक के अनन्त व असीम दुःखों से बे-खबर होकर जन्म-मरण के हेतुभूत विकथाओं में एवं छोटी-छोटी समस्याओं को तूल

देकर अपने अमूल्य समय व सीमित शक्ति को बर्बाद करते हैं, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

ऐसे लोग न केवल समय व शक्ति बर्बाद ही करते हैं, बल्कि आर्त-रौद्रध्यान करके प्रचुर पाप भी बाँधते रहते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी मानवीय कमजोरी है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि – जब भी और जहाँ कहीं भी दो परिचित व्यक्ति बातचीत कर रहे होंगे वे निश्चित ही किसी तीसरे की बुराई भलाई या टीका-टिप्पणी ही कर रहे होंगे। उनकी चर्चा के विषय राग-द्वेषवर्द्धक विकथायें ही होंगे। सामाजिक व राजनैतिक विविध गतिविधियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके वे ऐसा गर्व का अनुभव करते हैं, मानों वे ही सम्पूर्ण राष्ट्र का संचालन कर रहे हों। भले ही उनकी मर्जी के अनुसार पत्ता भी न हिलता हो। नये जमाने को कोसना-बुरा-भला कहना व पुराने जमाने के गीत गाना तो मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है। उन्हें क्या पता कि वे यह व्यर्थ की बकवास द्वारा आर्त-रौद्रध्यान करके कितना पाप बाँध रहे हैं, जोकि प्रत्यक्ष कुगति का कारण है।

भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके माथे के धवल केश मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिरविदाई की मानसिकता बना चुके हों। अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय है?

हो सकता है उनके विचार सामायिक हों, सत्य हों, तथ्यपरक हों, लौकिक दृष्टि से जनोपयोगी हों, न्याय-नीति के अनुकूल हों; परन्तु इस नक्कार खाने में तूती की आवाज सुनता कौन है? क्या ऐसा करना

पहाड़ से माथा मारना नहीं है? यह तो उनका ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरों के सिवाय और कोई नहीं सुनता।

वैसे तो जैनदर्शन में श्रद्धा रखनेवाले सभी का यह कर्तव्य है कि वे तत्वज्ञान के आलम्बन से जगत के ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखें; क्योंकि सभी को शान्त व सुखी होना है, आनंद से रहना है, पर वृद्धजनों का तो एकमात्र यही कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवलज्ञाता-दृष्टा ही रहें, उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें; क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख के उपायभूत समाधि का साधन नहीं अपनायेंगे तो कब अपनायेंगे ? फिर उन्हें यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है। वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते?

इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाने और जगत को सुधारने में उन्होंने अबतक क्या कुछ नहीं किया? बचपन, जवानी और बुढ़ापा – तीनों अवस्थायें इसी उधेड़बुन में ही तो बिताईं हैं, पर क्या हुआ? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे वैराग्य क्यों नहीं हुआ?

आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अनन्तानंत जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ में से उचटे विरले चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लम्बे काल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकायों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ विरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक; पर इसके उपरांत

मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यग्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ है जो कि हमें हमारे सातिशय पुण्योदय से सहज प्राप्त हो गये हैं। तो क्यों न हम अपने इस इन अमूल्य क्षणों का सदुपयोग कर लें। अपने इस अमूल्य समय को विकथाओं में व्यर्थ बरबाद करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

इस संदर्भ में भूधरकवि कृत निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुक्ति कौ जल है।
देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत;
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक अहेरी;
आबै परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;
ऐसी दशा मांहि, मित्र काहे की कुशल है।

इसप्रकार हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना आत्मज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समता, शान्ति व सुखपूर्वक जीवित ही रह सकता है और न समाधिमरण पूर्वक मर ही सकता है।

अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत दो-तीन प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है। एक तो यह कि **– भाग्य से अधिक और समय से पहले किसी को कभी कुछ नहीं मिलता** और दूसरा यह कि **– न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, भले-बुरे के कर्त्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, हमारा भला-बुरा कर सकता है।**

किसी कवि ने कहा है –

तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः, भाग्यात् परं नैव ददाति किंचित्।
अहिर्निशिं वर्षति वारिवाह तथापि पत्र त्रितयः पलाशः॥

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, तो भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

यह पहला सिद्धान्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इसका आधार जैनदर्शन की कर्म व्यवस्था है।

दूसरा सिद्धान्त 'वस्तु स्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है जो कि जैनदर्शन का प्राण है। इसके अनुसार 'जगत का प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही स्वतंत्ररूप से परिणमनशील है, पूर्ण स्वावलम्बी है।

जब तक यह जीव इस वस्तुस्वातंत्र्य के इस सिद्धांत को नहीं समझेगा और क्रोधादि विभाव भावों को ही अपना स्वभाव मानता रहेगा; अपने को पर का और पर को अपना कर्त्ता-धर्त्ता मानता रहेगा तबतक समता एवं समाधि का प्राप्त होना संभव नहीं है।

देखो, "लोक के प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी परद्रव्य के आधीन नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं है।" ऐसी श्रद्धा एवं समझ से ही समता आती है, कषायें कम होती है, राग-द्वेष का अभाव होता है। बस, इसीप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कसाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।

यहाँ कोई व्यक्ति झुँझलाकर कह सकता है कि – समाधि... समाधि... समाधि...? अभी से इस समाधि की चर्चा का क्या काम?

यह तो मरण समय धारण करने की वस्तु है न? अभी तो इसकी चर्चा शादी के प्रसंग पर मौत की ध्वनि बजाने जैसी अपशकुन की बात है न?

नहीं भाई! ऐसी बात नहीं है, तुम्हें सुनने व समझने में भ्रम हो गया है, समाधि व समाधिमरण-दोनों बिल्कुल अलग-अलग विषय हैं। जब समाधि की बात चले तो उसे मरण से न जोड़ा जाय। मरते समय तो समाधिरूप वृक्ष के फल खाये जाते हैं; बीज तो समाधि अर्थात् समताभाव से जीवन जीने का अभी ही बोना होगा; तभी तो उस समय समाधिमरणरूप फल प्राप्त हो सकेगा। कहा भी है –

"दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, प्रीति सहित अपनाय।
च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि फल पाय॥

समाधि तो साम्यभावों से निष्कषाय भावों से, निराकुलता से जीवन जीने की कला है, उससे मरण का क्या सम्बन्ध? हाँ, जिसका जीवन समाधिमय होता है, उसका मरण भी समाधिमय हो जाता है; मरण की चर्चा तो मात्र सजग व सावधान करने के लिए, शेष जीवन को सफल बनाने के लिए, संवेग भावना जगाने के लिए बीच-बीच में आ जाती है। सो उसमें भी अपशकुन जैसा कुछ नहीं है।

भाई मौत की चर्चा अपशकुन नहीं है, बल्कि उसे अपशकुन मानना अपशकुन है। हमें इस खरगोश वाली वृत्ति को छोड़ना ही होगा, जो मौत को सामने खड़ा देख अपने कानों से आँखें ढंक लेता है और स्वयं को सुरक्षित समझ लेता है। जगत में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते तो हैं ही; परन्तु सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उनके मरण को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

हाँ, जिन्होंने तत्त्वज्ञान के बल पर अपना जीवन भेदविज्ञान के अभ्यास से, निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जिया हो और मृत्यु के क्षणों में

देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया हो; उनके उस प्राणविसर्जन की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधिमरण या मृत्यु-महोत्सव कहते हैं।

एतदर्थ सर्वप्रथम संसार से सन्यास लेना होता है। सन्यास अर्थात् संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना। सन्यास की सर्वत्र यही व्याख्या है। ऐसे संसार, शरीर व भोगों से विरक्त आत्म साधना के पथ पर चलनेवाले भव्यात्माओं को सन्यासी कहा जाता है। साधु तो सन्यासी होते ही हैं, गृहस्थों को भी इस सन्यास की भावना को निरन्तर भाना ही चाहिए।

'समाधि' के लिए निजस्वरूप की समझ अनिवार्य है। आत्मा की पहचान, प्रतीति व श्रद्धा समाधि का प्रथम सोपान है। सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर सन्यासपूर्वक ही समाधि की साधना संभव है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों की सही समझ, इनमें हेयोपादेयता का विवेक एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अनिवार्य है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है, जोकि मोक्षमार्ग का प्रथमसोपान है। सन्यास व समाधि भी इसके बिना संभव नहीं है।

तत्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण- यही सब समाधि के सोपान हैं। वस्तुतः - कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम ही तो समाधि है।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो – ''आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के इक्कीसवें अध्याय में कहा है – 'सम' शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकरूप या एकाग्र करना। इसप्रकार शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।''

इसीप्रकार भगवती आराधना में भी समाधि के सम्बन्ध में लिखा है – ''सम शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकाग्र करना, शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार गाथा १२२ में समाधि की चर्चा करते हुए कहा है कि – ''वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।''

आचार्य योगीन्दुदेव कृत परमात्मप्रकाश की १९०वीं गाथा में परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि – ''समस्त विकल्पों के नाश होने को परम समाधि कहते हैं।''

इसे ही ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा है कि – ''ध्येय और ध्याता का एकीकरणरूप समरसीभाव ही समाधि है।''

स्याद्वाद मंजरी की टीका में योग और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है – ''बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।''

इसप्रकार जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन साधना आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विल्प भावों से ही जोड़ा है। अतः समाधि के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीवन को निष्कषाय भाव से, समतापूर्वक, अतीन्द्रिय आत्मानुभूति के साथ जीना जरूरी है। जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से ही संभव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल पर जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा। एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन और उन्हीं की भावनाओं को बारम्बार नचाना, उनकी बारम्बार चिन्तन करना – अनुप्रेक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। तभी हम राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। जिन्होंने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं का समाधिपूर्वक होता है। वस्तुतः आधि-व्याधि व उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

पर ध्यान रहे, जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवनभर संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही हाय-हाय करते बीता हो, जिसने जीवन में कभी निराकुलता का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवनभर मुख्यरूप से आर्तध्यान व रौद्रध्यान ही रहा हो; उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि "जैसी मति वैसी गति।"

आगम के अनुसार जिसका आयुबंध जिसप्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः यहाँ ऐसा कहा जायगा कि "जैसी गति वैसी मति"।

जब तक आयुबंध नहीं हुआ तबतक मति अनुसार गति बंधती है और अगले भव की आयुबंध होने पर 'गति के अनुसार मति' होती है। अतः यदि कुगति में जाना पसंद न हो तो मति को सुमति बनाना एवं व्यवस्थित करना आवश्यक है, कुमति कुगति का कारण बनती है और सुमति से सुगति की प्राप्ति होती है।

जिन्हें सन्यास व समाधि की भावना होती है, निश्चित ही उन्हें शुभ

आयु एवं शुभगति का ही बंध हुआ है या होनेवाला है। अन्यथा उनके ऐसे उत्तम विचार ही नहीं होते। कहा भी है –

तादृशी जायते बुद्धि, व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायस्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता॥

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक कारण कलाप सभी समवाय एक होनहार का ही अनुशरण करते हैं। मोही जीवों को तो मृत्यु इष्टवियोग का कारण होने से दुःखद ही अनुभव होती है। भला मोही जीव इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं? नहीं दे सकते।

अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन सुधारने का प्रयत्न करना होगा।

मृत्यु को अमृत महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिकरूप से अपने आत्मा के अजर-अमर-अनादि-अनंत, नित्यविज्ञान घन व अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार होता है। साथ ही चिर विदाई देने वाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं तब कहीं वह मृत्यु अमृत महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्च्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या मरण की संभावना से भी रोने लगते हैं, इससे मरणासन्न व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की संभावना बढ़ जाती है अतः ऐसे वातावरण से उसे दूर ही रखना चाहिए।

शंका :– जब मृत्यु के समय कान में णमोकार मंत्र सुनने-सुनाने

मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है, तो फिर जीवनभर तत्त्वाभ्यास की क्या जरूरत है? जैसा कि जीवन्धर चरित्र में आई कथा से स्पष्ट है। उस कथा में तो साफ-साफ लिखा है – ''महाराज सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धर कुमार के द्वारा एक मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके फलस्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारक देव बना।''

समाधान :– यह पौराणिक कथा अपनी जगह पूर्ण सत्य है, पर इसके यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन को समझने के लिए प्रथमानुयोग की कथन पद्धति को समझना होगा। एतदर्थ पण्डित टोडरमल कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्नकथन दृष्टव्य है।

''जिसप्रकार किसी ने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ; परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए; तथापि उनको मंत्र स्मरणादि का फल ही निरूपित करते हैं।.....''

यदि उपर्युक्त प्रश्न को हम पण्डित टोडरमल के उपर्युक्त कथन के संदर्भ में देखें तो उस कुत्ते को न केवल णमोकार मंत्र के शब्द कान में पड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति हुई; बल्कि उस समय उसकी कषायें भी मंद रहीं होंगी, परिणाम विशुद्ध रहे होंगे, निश्चित ही वह जीव अपने पूर्वभवों में धार्मिक संस्कारों से युक्त रहा होगा। परन्तु प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार णमोकार महामंत्र द्वारा पंचपरमेष्ठी के स्मरण कराने की प्रेरणा देने के प्रयोजन से उसकी स्वर्ग प्राप्ति को णमोकार मंत्र श्रवण का फल निरूपित किया गया है, जो सर्वथा उचित ही है और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्ण सत्य है। जिनवाणी के सभी कथन शब्दार्थ की मुख्यता से नहीं, वरन भावार्थ या अभिप्राय की मुख्यता से किए जाते हैं। अतः शब्द

म्लेछ न होकर उनका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अभिधेयार्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि लोकदृष्टि से लोक विरुद्ध होने से तत्त्वज्ञानियों के भी आंशिक राग का सद्भाव होने से तथा चिर वियोग का प्रसंग होने से मृत्यु को अन्य उत्सवों की भाँति खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा विवेक के स्तर पर राग से ऊपर उठकर मृत्यु को अमृत महोत्सव जैसा महशूस तो किया ही जा सकता है।

यद्यपि सन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु सन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। सन्यास संसार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समताभाव रूप कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है। सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है – सम्यक् प्रकार से कायं एवं कषायों को कृश करना।

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म की साधना संभव न रहे तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्म रक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है। इसे ही मृत्यु महोत्सव भी कहते हैं।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्न चित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषायभावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है। बस यही सल्लेखना का संक्षिप्त स्वरूप है।

समाधि की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि – 'समरसी भावः समाधिः' समरसी भावों का नाम समाधि है। समाधि में त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना मुख्य है।

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निजशुद्धात्म स्वरूप का ध्यान प्रमुख है। स्थूलरूप तीनों एक होते हुए भी साधन-साध्य की दृष्टि से सन्यास समाधि का साधन है और समाधि सल्लेखना का; क्योंकि सन्यास बिना समाधि संभव नहीं और समाधि बिना सल्लेखना-कषायों का कृश होना संभव नहीं होता।

सल्लेखना के आगम में कई प्रकार से भेद किए हैं; जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है –

नित्यमरण सल्लेखना :– प्रतिसमय होनेवाले आयुकर्म के क्षय के साथ द्रव्य सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणमन नित्यमरण सल्लेखना है।

तद्भवमरण सल्लेखना :– भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर त्यागना तद्भवमरण सल्लेखना है।

काय सल्लेखना :– काय से ममत्व कम करते हुए काय को कृश करना; उसे सहनशील बनाना काय सल्लेखना है। एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकाशन, कभी नीरस आहार कभी अल्पाहार (उनोदर)। – इसतरह क्रम-क्रम से शक्तिप्रमाण आहार को कम करते हुए क्रमशः दूध, छाछ गर्मपानी से शेष जीवन का निर्वाह करते मरण के निकट आने पर पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय सल्लेखना है।

भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना :– इसमें भी उक्त प्रकार से ही भोजन का त्याग होता है। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष व जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

कषाय सल्लेखना :– तत्त्वज्ञान के बल से कषायें कृश करना।

आगम में मरण या समाधि मरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओं से हुए हैं – उनमें निम्नांकित पाँच प्रकार के मरण की भी एक अपेक्षा है।

१. पण्डित-पण्डित मरण :– केवली भगवान के देह विसर्जन को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

२. पण्डित मरण :– यह मरण छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के होता है। एकबार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव में ही मुक्ति हो जाती है।

३. बाल पण्डित मरण – यह मरण देशसंयमी के होता है। इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

४. बाल मरण :– यह मरण चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

५. बाल-बाल मरण :– यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है। यह मरण करने वाले अपनी-अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारों गतियों के पात्र होते हैं। पाँचवें बाल-बाल मरण को छोड़कर उक्त चारों ही मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, परन्तु स्वरूप की स्थिरता और परिणामों की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार होती है।

समाधिधारक यह विचार करता है कि – "जो दुःख मुझे अभी है, इससे भी अनंतगुणे दुःख मैंने इस जगत में अनन्तबार भोगें हैं, फिर भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा। अतः इस थोड़े से दुःख से क्या घबराना? यदि पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान होगा तो फिर नये दुःख के बीज पड़ जायेंगे। अतः इस पीड़ा पर से अपना उपयोग हटाकर मैं अपने उपयोग को पीड़ा से हटाता हूँ। इससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होगा। जो असाता कर्म उदय में दुःख आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही, यदि समतापूर्वक सह लेंगे और तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहेंगे तथा आत्मा की

आराधना में लगे रहेंगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचित कर्म क्षीण हो जायेंगे।

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें, जो प्रबलकर्म उदय में आयेंगे, वे तो फल देंगे ही। उपचार भी कर्म के मंदोदय में ही अपना असर दिखा सकेगा। जबतक असाता का उदय रहता है, तबतक औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर, राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते, क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का वश नहीं चलता। – ऐसा मानकर आये दुःख को समताभाव से सहते हुए सबके ज्ञाता-दृष्टा बनने का प्रयास करना ही योग्य है। ऐसा करने से ही मैं अपने मरण को समाधिमरण में परिणत कर सकता हूँ।

आचार्य कहते हैं कि – यदि असह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्मध्यान में न लगता हो, मरण समय हो तो ऐसा विचार करें कि – "कोई कितने ही प्रयत्न क्यों न करे, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो सुख-दुःख, जीवन-मरण जिस समय होना है, वह तो होकर ही रहता है।

कार्तिकानुप्रेक्षा में स्पष्ट लिखा है कि – "साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति सम्पन्न इन्द्र व अनन्त बल के धनी जिनेन्द्र भी स्व-समय में होनेवाली सुख-दुःख व जीवन-मरण पर्यायों को नहीं पलट सकते।"

ऐसे विचारों से सहज समता आती है और राग-द्वेष कम होकर मरण समाधि मरण में परिणत हो जाता है।

सभी भव्य जीव ऐसे मंगलमय समाधिमरण को धारण कर अपने जीवन में की गई आत्मा की आराधना तथा धर्म की साधना को सफल करते हुए सुगति प्राप्त कर सकते हैं।

उपसंहार

सारांश रूप में कहें तो आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ – समाधि इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शांत, अत्यन्त निर्भय और निशंक भाव से जीवन जीने की कला ही समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना संभव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना संभव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेदविज्ञान अनिवार्य है।

जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।

समाधि और सल्लेखना को और भी सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि "समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीवन जीने की कला है और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।" इति शुभं। ॐ नमः ●

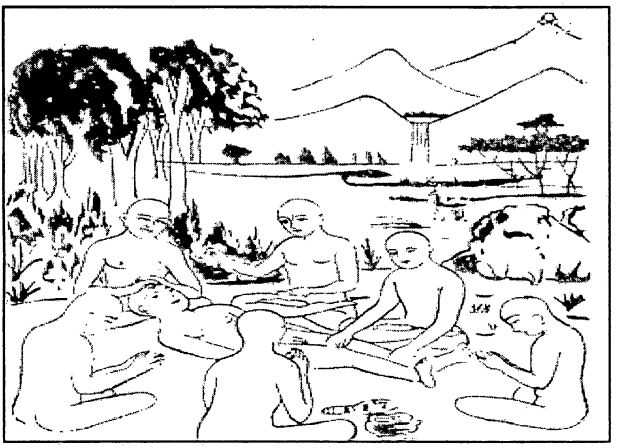

प्रकाशन योजना के हमारे स्तम्भ

परम संरक्षक : (२१ हजार प्रदान करने वाले)

- श्रीमती इन्दुमती अन्नासाहेब, खेमलापुरे, पो. घटप्रभा, जि. बेलगाँव, कर्नाटक

सह संरक्षक : (११ हजार प्रदान करने वाले)

- लाला धर्मपाल जैन, महावीर ब्लॉक, भोलानाथ नगर, शाहदरा, दिल्ली

हितैषी सदस्यगण : (५ हजार प्रदान करने वाले)

- (स्व. पं. चुन्नीलालजी शास्त्री की स्मृति में)
  श्रीमती हीराबाई चुन्नीलाल जैन पा. ट्रस्ट, चन्देरी (म.प्र.) एवं जयपुर (राज.)
- (स्व. पं. हीरालालजी कौशल की स्मृति में)
  डॉ. सत्यप्रकाश जैन, बी-१७३, सूरजमल विहार, दिल्ली
- (स्व. श्री प्रेमचन्दजी जैन की स्मृति में)
  श्रीमती बिन्दु जैन धर्मपत्नि डॉ. अशोक गोयल शास्त्री
  १५७ चन्द्र विहार, निकट पटपड़गंज डिपो, दिल्ली-११००९२
- (स्व. श्रीमती रूपवती किरण की स्मृति में)
  श्री नरेन्द्रकुमार जैन, राइट टाउन, जबलपुर (म.प्र.)
- (स्व. श्रीमती शकुन्तलादेवी की पुण्य स्मृति में)
  श्री जवाहरलालजी जैन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
- (पं. राजकुमार जैन शास्त्री की स्मृति में)
  डॉ. रमेश जैन, जैन आई हास्पिटल निवाई (राज.)
- श्रीमती श्रीकान्ताबाई छाबड़ा
  धर्मपत्नि श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर (म.प्र.)
- श्रीमती कमलादेवी जैन रांवका पत्नि स्व. श्री सौभागमल जैन रांवका
  ६६९, पं. चैनसुखदास मार्ग, किशनपोल बाजार, जयपुर-३
- आदीश्वरलाल जैन फाउण्डेशन, राजपुर रोड़, दिल्ली
- प्रेमचन्द जैन कागजी, बेला रोड़, दिल्ली
- श्री पी.के. जैना, डी-६४, सूरजमल विहार, दिल्ली
- श्री दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (हस्ते श्री ताराचन्दजी प्रेमी)
- श्रीमती सुशीला जैन, राजपुर रोड़, दिल्ली
- श्रीमती मंजु जैन ६/१ रैकिट कोर्ट रोड़, सिविल लाइन्स, दिल्ली
- (स्व. प्रेमवती जैन मातेश्वरी की स्मृति में)
  श्री अनिलकुमार जैन कागजी, चावड़ी बाजार, दिल्ली
- श्री दुलीचन्द जैन, ९८, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली
- श्री सत्येन्द्र मोहन जैन, चन्द्रविहार, नई दिल्ली
- श्रीमती राजरानी जैन धर्मपत्नी श्री सुमेरचन्द जैन
  सी/२/५६, अशोक विहार फेस ११, दिल्ली
- श्री आर.के. जैन, पॉकेट बी, ४०ए, फेस II, अशोक विहार, दिल्ली
- श्री नानकचन्द जैन, बी ३/१११ फेस II, अशोक विहार, दिल्ली
- डॉ. कमलेश जैन, बी/४/८, अशोक विहार, फेस दिल्ली
- श्री विमला जैन, नीरू केमीकल्स, दिल्ली

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

अगहन कृष्णा अष्टमी वी. सं. 1989 तदनुसार, 21 नवम्बर 1932 के ललितपुर (उत्तरप्रदेश) जिले के बरौदा स्वामी ग्राम के एक धार्मिक परिवार में जन्में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल स्वर्गीय श्री हरदासजी भारिल्ल के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए., बी.एड. शिक्षा प्राप्त है।

सिद्धहस्त तथा लोकप्रिय लेखक होने के साथ आप एक सफल पत्रकार भी हैं। जैनपथदर्शक (पाक्षिक) के आप आद्य सम्पादक हैं, जिसका 1977 से नियमित प्रकाशन हो रहा है। आध्यात्मिक तथा तात्त्विक विषयों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करने की आपकी अद्भुत क्षमता है।

आपकी लगभग 17 मौलिक कृतियाँ हैं, जो लाखों की संख्या में जन-जन तक पहुँच कर बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ चुकी है। जैन ही नहीं जैनेतर भी आपके साहित्य से लाभान्वित होते रहे हैं।

निबन्ध शैली में लिखी गई आपकी कृतियाँ। शोध शैली में होते हुए भी सरल, सुबोध,सर्वग्राह्य, व्यावहारिक एवं जनोपयोगी है। सभी पुस्तकों में नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं के समाधान भी सहज मिल जाते हैं।

उपन्यासों के माध्यम से तत्वज्ञान कराने की आपकी शैली मिश्री के माध्यम से दवा पिलाने जैसी हैं। आपके सभी उपन्यास लोकप्रिय है।

सम्प्रति में आप टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। आप सफल शिक्षाविद् और प्रौढ़ प्रवचनकार भी हैं।